शंका समाधान.

(१) ईशोपनिषद् ।

(१) विद्या और अविद्याके अर्थका विचार ।

कुछ दिन हुए अखबारोंमें " ईश और केन " उपनिषदोंके विषयमें शंकाएं उपस्थित कीं गईं हैं । जिस रीतिसे लेख लिखे गये हैं, उस रीतिको देख कर उसका उत्तर देनेकी कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती; तथापि कई पाठकोंकी प्रेरणा हुई, इस लिये आक्षेपकके मुख्य आक्षिप्त विषयोंका थोडासा विचार करनेका संकल्प इस लेखमें किया है । " ईश " उपनिषद्में " विद्या और अविद्या " का विषय बडा महत्व रखता है । इन दो शब्दोंके अर्थ निश्चित होनेसे तत्त्वज्ञानविषयक एक महत्त्वकी बातका निश्चय होना संभव है । इस समय तक के प्रस्थान त्रयीके आचार्योंनें इन शब्दोंके " ज्ञान और कर्म " अर्थ मुख्यतया स्वीकृत किये हैं । यद्यपि कईयोंके अर्थोंमें अंशरूपसे भिन्नता है तथापि उसका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है । श्री० स्वा० दयानंद सरस्वतीजीनेही अपने यजुर्वेद भाष्यमें " अविद्या " का अर्थ " जड " और " विद्या " का अर्थ " आत्माका यथार्थ ज्ञान " किया है । पूर्वापर संबंधसे स्वामिजीका भाव स्पष्ट है कि

" **अविद्या** " का अर्थ " **जडका ज्ञान** " और " **विद्या** " का अर्थ " **आत्माका ज्ञान** " है । देखिये—

अविद्या—ज्ञानादिगुणरहितं जडं परमेश्वराद्भिन्नं वस्तु ।
(यजु. ४०।१२)

विद्या—आत्मशुद्धांतःकरण...जनितं यथार्थदर्शनं ।
(यजु. ४०।१४)

इन अर्थोंमें अविद्याका संबंध जडसे निश्चित है और विद्याका अर्थ आत्मासे संबंधित है । प्रस्थान त्रयीके पूर्व चारों आचार्योंसे ये अर्थ भिन्न हैं । इस लिये यहां विवेक करना है कि कौनसा अर्थ माननीय है । इसका विचार करनेके लिये बडी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है, पहिलाही मंत्र देखनेसे उसमें इन शब्दोंके अर्थोंका पता लग सकता है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं ॥ य. ४०।१; ईश १

यह ईशोपनिषद् का प्रथम मंत्र है । इसमें मुख्य बात " **ईशा+वास्यं×इदं** । " इन ती शब्दोंमें ही व्यक्त हो रही है, इसका विचार देखिये—

ईशा— वास्यं— इदं
ईश— वसने योग्य है—इसमें
आत्मा—व्यापक है— जगत्में

संपूर्ण उपनिषद्को यही एक बात कहनी है । आत्माकी व्यापकताका पता लगा और उसका अनुभव हुआ तो सब ग्रंथका

ज्ञान होगा। परंतु यही बात कठिन है, इस लिये इस बातका वारंवार मनन करना पडता है। अस्तु।

उक्त मंत्रभागमें " वास्यं " क्रिया " ईश " का अधिकार और व्यापार बता रही है, इसको अलग किया जाय तो शेष दो ही शब्द रहते हैं—

ईश+इदं

एक " ईश " है और दूसरा पदार्थ है जो " इदं " शब्दसे जाना जाता है, यह ईशसे भिन्न है, इसकी भिन्नता निम्न प्रकार बताई जा सकती है—

ईश	इदं
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
पुरुष	प्रकृति
जगत्कर्ता	जगत्

जो जीवात्मा है उसका अलग निर्देश इस लिये किया नहीं है कि वह " आत्मा " शब्दके अंदर बोधित होता है। प्रकृत्तिपुरुष का विवेक करनेके समय " आत्मा और अनात्मा " इतना ही वर्गीकरण करनेकी परिपाठी है। आत्मा शब्दसे जीवात्मा और परमात्मा दोनोंका बोध हो सकता है। इसी लिये परमात्मवाचक संपूर्ण शब्द वेदमें प्रायः जीवात्माके भी वाचक माने गये हैं। अस्तु। उक्त विचारसे यह बात सिद्ध हुई कि " ईश और ईशभिन्न अनीश जगत् " ये दोही पदार्थ हैं। अब यहां प्रश्न होता है कि—

(१) केवल ईशको जानना चाहिये, किंवा—
(२) केवल जगत् को जानना चाहिये, अथवा—
(३) दोनोंको जानना आवश्यक है ?

पहिला मंत्र पढतेही ये प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होते हैं और इन प्रश्नोंका उत्तर " **विद्या अविद्या प्रकरण** " से दिया गया है। यहां " **विद्या** " और " **अविद्या** " के अर्थके विषयमें निश्चय करनेके लिये निम्न शब्द उपयोगी हो सकते हैं—

ईश	इदं
ईश–विद्या	अनीश–विद्या
आत्म–विद्या	अनात्म–विद्या
(० –विद्या)	(अ०–विद्या)

विद्या और अविद्या ये शब्द इस प्रकार " **संक्षेपके शब्द** " हैं। इस लिये ईशोपनिषद्में इनका अर्थ प्रसंगसे जो प्राप्त है वहीं लेना उचित है। यदि " **ईश** " है तो उसको जानना आवश्यक है, तथा यदि " **इदं** " शब्दसे बोधित " **जगत्** " है तो उसकोभी जानना चाहिये। दोनोंके गुणधर्म जाननेसे ही जीवकी उन्नति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

यहां कईयोंकी शंका हो सकती है कि, (१) ईश सर्वशक्तिशाली होनेसे हम उसको ही केवल जाननेका यत्न करेंगे; और दूसरे कई कह सकते हैं, (२) हमें जगत् प्रत्यक्ष है, ईशका तो पताही नहीं है, इसलिये हम जगत्कोही केवल जाननेका यत्न

करेंगे, तो इस विवादका निर्णय कैसा किया जा सकता है ? हमारे विचारमें इसी शंकाका समाधान ईश उपनिषद्के " विद्या अविद्या प्रकरण " में किया गया है, देखिये—

अंध तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते ॥
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्याया ॥
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ॥
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

यजु. ४०।१२–१४॥ ईश.९–११

"(१) जो केवल जगद्विद्याकीही भक्ति करते हैं वे घने अंधकार में जाते हैं तथा जो केवल ईशविद्यामें रमते हैं वे उससेभी गाढ अंधकारमें जाते हैं। (२) आत्मविद्यासे एक लाभ है और सृष्टिविद्यासे दूसरा लाभ है, ऐसा बुद्धिवान् कहते आये हैं। (३) जो आत्मविद्या और सृष्टिविद्याको साथ साथ उपयोगी समझते हैं, वे जगद्विद्यासे कष्टोंको दूर कर आत्मविद्यासे अमरत्व प्राप्त करते हैं।"

इसका विचार स्थूल दृष्टिसेही देखिये । सृष्टिविद्यासे भोजन, आच्छादन आदिके सुख प्राप्त हो सकते हैं और यहां का जीवित सुखमय होना संभव है । तथा आत्मविद्यासे शांति और आनंद प्राप्त होता है । मान लीजिये कि यदि किसीने दुराग्रहके कारण केवल आत्मविद्याके लिये ही परिश्रम किये और सृष्टिविद्याका विचा-

रही छोड दिया तो उसको खानेकी भी कठिनता हो जायगी, और जीवित रहना भी असंभव हो जायगा । तथा यदि दूसरे किसी आग्रही मनुष्यनें आत्माका विचार छोडकर केवल जगद्विद्यामें ही प्रयत्न किये तो उसका भी आसुरी भाव उत्पन्न होनेके कारण नाश होगा ।

इस लिये वेद कहता है कि (१) **सृष्टिविद्यासे इस जगत्का जीवित सुखमय करो, और (२) साथ साथ आत्मज्ञानसे आनंद प्राप्त करो** । इस वैदिक दृष्टिसे सृष्टिविद्या और आत्मविद्याका सम बोध होनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

(२) संभूति और असंभूति ।

पूर्व भागमें " **विद्या और अविद्या** " का अर्थ ईश उपनिषद् के पहिले मंत्रके अनुसंधानसे किया है और अब संभूति असंभूति का अर्थ उसी प्रकार देखना है । संभूति का अर्थ सृष्टि और असंभूतिका अर्थ मूल प्रकृति समझा गया है । परंतु प्रथम मंत्रके पदोंका मनन करनेसे पूर्ववत् इन पदोंके भी अर्थ खुल जाते हैं। जैसे प्रथम मंत्रके प्रथम पादके " **ईश और इदं** " इन दो पदोंसे " **विद्या और अविद्या** " के अर्थ निश्चित हुए, उसी प्रकार प्रथम मंत्रके द्वितीय पादमें " **संभूति और असंभूति** " के अर्थ निश्चित करनेके साधन हैं, देखिये—

ईशा वास्यमिदं सर्वं
यत् किंच जगत्यां जगत् ॥

॥ य० ४०।१; ईश. १ ।

" ईश इस सबमें व्याप्त है, जो कुछ जगतीमें जगत् है। "
" ईश " शब्दसे आत्माका बोध हो चुका है, और " इदं "
शब्दसे जगत् का बोध लिया है। इस " इदं " शब्दकी व्याख्या
आगेके शब्दोंमें हो रही है। " जगत्यां जगत् " यह स्वरूप है
" इदं " शब्दसे बोधित सृष्टिका। जिस सृष्टिमें आत्मा व्यापक है
वह सृष्टि कैसी है ? इसके उत्तरमें कहा है, सृष्टिका स्वरूप
" जगत्यां जगत् " है। इसका भाव यह है कि, " समूहमें
एक " यह सृष्टिका स्वरूप है । " जगत् " के समूहका ही
नाम " जगती " है।

जगत् शब्दका अर्थ संपूर्ण विश्व है, उसी प्रकार विश्वका एक
एक पदार्थ भी इससे बोधित होता है। इस मंत्रमें यह दूसरा अर्थ
विवक्षित है, क्योंकि संपूर्ण विश्वका बोधक " जगती " शब्द इसी
मंत्रमें अलग विद्यमान है। तात्पर्य यह कि " जगत्यां जगत् "
इन शब्दों द्वारा सृष्टिके स्वरूपका वर्णन हुआ है। " समूहमें एक "
यह सृष्टिका स्वरूप है। इस विषयमें निम्न शब्द देखिये—

जगत्याम्— जगत्
जगतीमें— जगत्
समूह "— एक
समाज "— व्यक्ति
समष्टि "— व्यष्टि
संघ "— एक
जाति "— व्यक्ति

समूहके आधारसे एकका अस्तित्व है, समष्टिके साथ व्यष्टि रहती है, संघके साथ व्यक्ति है, जातिके साथ व्यक्तिका अस्तित्व है, यही भाव " **जगतीमें जगत्** " है इस मंत्रभागमें है। ये अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आगये, तो " **संभूति और असंभूति** " का भाव समझमें आसकता है। (सं) इकट्ठा होकर (भूति) रहना, मिलकर रहना, संघभावसे रहना " सं-भूति " का तात्पर्य है जो " **जगती** " शब्दसे व्यक्त हुआ है। तथा संघभाव को छोड़कर व्यक्तिभावसे रहना " **अ-संभूति** " का आशय है।

मनुष्यके दो प्रकारके कर्तव्य होते हैं; उसका एक वैयक्तिक कर्तव्य है और दूसरा उसका सामुदायिक कर्तव्य है। कई मनुष्य आग्रहसे कह सकते हैं कि (१) मुझे समाजसे कुछ कर्तव्य नहीं है मैं स्वतंत्र हूं जो मर्जी आजाय करूंगा। इसी प्रकार दूसरे दुराग्रहीं हैं कि जो कह सकते हैं कि (२) हर एक व्यक्ति को जातीय हित करनेके लिये सदा परतंत्र रहना चाहिये, उसकी वैय्यक्तिक सत्ता कुछभी नहीं हैं। ये दो विवाद हैं, इनका उत्तर तत्वज्ञान की दृष्टिसे " **संभूति और असंभूति** " प्रकरणमें दिया है, देखिये—

अंधं तमः प्रविशंति येऽसंभूतिमुपासते ॥
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ॥
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ॥
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥
यजु. ४०।९–११; ईश ११–१४

"(१) जो केवल व्यक्तिभाव की उपासना करते हैं वे अंधकारमें जाते हैं और जो केवल संघभावमें रमते हैं वे भी उससे घने अंधेरेमें डूबते हैं। (२) संघभावका फल भिन्न है और व्यक्तिभावका फल भिन्न है, ऐसा सूज्ञ लोग कहते आये हैं। (३) संघभाव और व्यक्तिभावको जो साथ साथ उपयोगी समझते हैं, वे व्यक्तिभाव से अपने दुःखोंको दूर करके संघभावसे अमर होते हैं।"

व्यक्तिस्वातंत्र्य और समाजहित के झगडेकी इस प्रकार वेदने उत्तम व्यवस्था दी है। व्यक्तिकी स्वतंत्रता समाजके हितके विरोधी न हो और संघके कारण व्यक्ति बिलकुल दबी न जावे। मनुष्य प्राणी संघके साथ रहनेवाला है वह अलग रह नहीं सकता, इस लिये "**हर एक को अपने अभ्युदय के कार्योंमें स्वतंत्र और सामाजिक उन्नतिके कार्य करनेके समय परतंत्र रहना चाहिये।**" तभी ठीक होगा। क्यों कि समाजके साथ ही व्यक्ति का अस्तित्व है, इस लिये समष्टिके लिये व्यष्टिको कुछ न कुछ स्वार्थ-त्याग करना अत्यावश्यक है। इन मंत्रोंके भिन्न शब्दोंसे कुछ शंकायें हो सकतीं हैं इस लिये निम्न कोष्टक देखिये—

जगत्यां	जगत्
जगती	जगत्
सं–भूति	अ–संभूति

सं–भव	अ–संभव
सं- भूति	वि–नाश
संघभाव	व्यक्तिभाव

" विनाश " शब्द " असंभूति " के अर्थमें इस मंत्रमें प्रयुक्त है। इसका भाव यह है कि यदि यह " संघ और व्यक्तिके " कर्तव्य ठीक प्रकार करता गया, तो इसका (विगत-नाश) नाश नहीं होगा। परंतु संघका ख्याल न करता हुआ व्यक्तिभावके भोगोंमें मस्त रहा तो इसका (विशेष नाश) नाश निःसंदेह होगा। इस विचारसे यह बोध मिलता है कि " **व्यक्तिको समाजके हितके** अर्थ स्वार्थत्याग करना आवश्यक है। " इसी लिये कहा है कि—

(१) तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।

(२) मा गृधः

(१) इस लिये दानसे भोग कर। (२) मत ललचाओ। " चूं कि समाजके साथही व्यक्तिका अस्तित्व है, इस लिये समाजके हितके निमित्त स्वार्थत्याग कर और लालची, खुदगर्ज अथवा लोभी न बन। इस प्रकार यज्ञ करनेका उपदेश यहां मिलता है और " **यज्ञ रूप निःस्वार्थी कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर** " यह द्वितीय मंत्रका उपदेश ठीक संगत होता है।

तात्पर्य " **विद्या अविद्या** " के प्रकरणमें आत्मज्ञान और सृष्टिका ज्ञान प्राप्त करनेका उपदेश है; और " **संभूति असंभूति** "

प्रकरणमें व्यक्तिको अपने लिये तथा समाजके लिये कैसे कर्म करने चाहिये इसका उपदेश है। विद्या अविद्याका " **ज्ञान प्रकरण** " है और संभूति असंभूतिका " **कर्म प्रकरण** " है। जो विचार करनेकी इच्छा करते हैं वे विचार करें।

इस विषयका विचार इससे पूर्व विस्तारसे **वैदिक धर्म** के क्रमांक १९ में किया गया है, और **ईशोपनिषद्में** भी सविस्तर हुआ है। वेदके मंत्रोंका जो मनन करेंगे उनकोहि इसका रस मिल सकता है।

(२) केन उपनिषद्।

" उमा देवी "

जो केन उपनिषद् का अध्ययन करते हैं उनको " **उमा** " देवी का पता लगाना आवश्यक होता है। क्रमशः अग्नि, वायु, और इंद्र जाते हैं और यक्ष का पता लगानेका यत्न करते हैं। अग्नि पहिले वापस आता है, वायु उसके कुछ पास जाता है परंतु पता न लगाता हुआही वापस होता है, पश्चात् देवराज् इंद्र आगे बढता है, परंतु उसके सामनेसे यक्ष गुप्त होता है। इस प्रकार इंद्रकी घमंड दूर होती है, वह इस कारण लज्जित होता है। **वहां उसी आकाशमें उमा देवी उससे मिलती है और यक्षका ज्ञान देती है।** इस ज्ञानसे इंद्रका सब देवोंमें अधिक श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है।

कई लोग इस कथा को काल्पनिक समझते हैं ! ! परंतु केन उपनिषद्का विचार करनेसे पता लगता है कि वहां कोई काल्पनिक मनघडंत बात नहीं कही है। वहां एक अवस्थाका अनुभव बताया है। इस विषयमें उपनिषद्के पद स्पष्ट हैं देखिये--

स तस्मिन्नेव आकाशे स्त्रियमाजगाम ॥
बहुशोभमानामुमां हैमवतीं , तां होवाच ॥
केन. ३. ३।२५

" वह इंद्र (तस्मिन् एव आकाशे) उसी आकाशमें अत्यंत शोभायमान हैमवती उमादेवी के पास पहुंचा और उसके साथ बोला।"

इस वाक्य में **" उसी आकाशमें इंद्र और उमाका संमेलन"** होनेका वर्णन स्पष्ट है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि **" किस आकाशमें " यह हुआ ? कौनसा आकाश है कि जिसमें हैमवती उमाका दर्शन होता है ? किस आकाशमें " इंद्र" पहुंचा था ? वह किस मार्गसे वहां पहुंचा था ? जिस यक्षका चमत्कार पहिले दिखाई देता था, उसका चमत्कार उमादेवी के आकाशमें गुप्त क्यों हुआ ?** इत्यादि प्रश्न यहां आते हैं।

सूक्ष्म रीतिसे देखनेपर उक्त शब्दोंमें विशेष मार्गका वर्णन दिखाई देगा तथा पहिले खंडके वर्णन के साथ ही इस तृतीय खंडके वर्णनकी संगति दिखाई देगी। देखिये—

(१) पहिले ही मंत्रमें पूछा है कि **" किसकी प्रेरणासे मन, प्राण और वाणी कार्य करती है ? "**

(२) द्वितीय मंत्रमें उत्तर दिया है कि जो प्रेरक देव है वही **" वाणी की वाणी, प्राणका प्राण, और मनका मन है "**

(३) तृतीय मंत्रमें कहा है कि प्रेरक देवताके पास **" न वाणी जाती है,** (न प्राण जाता है) **और न मन पहुंचता है।**

इतना प्रथम खंडमें कहनेके पश्चात्, यही भाव " अग्नि, वायु, और इंद्र के वर्णनसे तृतीय खंडमें कह दिया है अर्थात्—

व्यक्तिमें	जगत्में
वाणी	अग्नि
प्राण	वायु
मन	इंद्र

जगत्के ये तत्व अंशरूपसे व्यक्तिके शरीरमें आकर रहे हैं। इसलिये शरीरमें जो बात अंशरूपसे सत्य है वही जगत् में विस्तृत रूपसे सत्य है। तात्पर्य विस्तारसे कही जाय अथवा सूक्ष्म अंशसे कही जाय, तत्व दृष्टिसे बात एक ही होती है।

इसका भाव यह है कि जो अग्नि और वायुका पराजय केन उपनिषद्के तृतीय खंडमें वर्णन किया है वह, वाणी और प्राणका ही पराजय है। आत्माका वर्णन करते करते वाणी थकती हुई पीछे हट जाती है। पीछेसे प्राण आगे बढता है, परंतु वह भी आत्मातक नहीं पहुंचता। जो शब्दोंसे आत्माका वर्णन करने लगते हैं, उनको अनुभव होता है कि, शब्दोंसे उसका वर्णन नहीं हो सकता। प्राणके उपासक आत्माको प्राप्त करनेका यत्न करते हैं परंतु आत्माके पास पहुंचनेके पूर्व ही प्राणका व्यापार बंद होता है, और एक प्रकार की "मृतावस्था" सी आती है। इस प्रकार वाचा और प्राण परास्त होते हैं, इनका पराजय देखकर इंद्रियों (देवों) का राजा (इंद्र) मन आगे बढता है, परंतु जैसा जैसा वह आगे बढता जाता है, वैसा वैसा यक्षका तेज लुप्त होता है, और वह एक ऐसे आकाशमें पहुंचता है कि जहां प्रकाश का नाम तक नहीं होता।

इस आकाशमें उसको तेजस्विनी उमाका दर्शन होता है और उमाके कथनसे ब्रह्मका तत्व उसको विदित हो जाता है। पाठकोंको विदित हुआ ही होगा कि, यह उलटा मार्ग है । देखिये दो मार्ग निम्न प्रकार हैं।—

(१) **प्रवृत्तिका मार्ग**—आत्माकी प्रेरणा बुद्धिसे मनमें, मनसे प्राणमें और प्राणसे वाणीमें होती है।

(२) **निवृत्तिका मार्ग**—वाणीका लय प्राणमें, प्राणका मनमें, मनका बुद्धिमें इ०

आत्माकी खोज निवृत्तिके मार्गसे करनी होती है । इसीको " **अंतर्मुख वृत्ति** " बोलते हैं। वाक्शक्ति आत्माकी खोज करनेके समय अंतर्मुख होती है और प्राणमें मिल जाती है। इस अवस्थामें वाणी बंद होती है और प्राण चलता रहता है। इससे आगेकी अवस्थामें प्राण अंतर्मुख होता है और वह मनमें लीन होता है, यही केवल–कुंभककी सिद्धि है। जिन्होंनें योगसाधनका थोडासा अनुभव लिया होगा उनको इस बातका पताही होगा। प्राण बंद होनेके पश्चात् अकेला मन प्रकाशके साथ चोवीस तत्वोंके प्रकाशोंका अनुभव करता हुआ प्रकाशके मूलकी खोज करनेकोलिये आगे बढता है, आगे बढते बढते, अचानक एक अवस्था आती है कि, जिसमें उसके सामनेके संपूर्ण दृश्य बंद होते हैं, और **वह गहरे अंधकारपूर्ण आकाशमें अकेला रह जाता है**। इसी अवस्थाका वर्णन केन उपनिषद्में किया है कि " **इंद्रके सामनेसे यक्षका तेज गुप्त हुआ इ०**।" इस अवस्थामें पहुंचा हुआ मन घमंड छोडता है, यही अवस्था है कि जिस समय " **बहुशोभायमान हैमवती उमा** " दिखाई देती है। कुंडलिनीका साक्षात्कार यहांही है। यह पर्वतराज

की तेजस्विनी पुत्री है। यह (a tortuous vien at the bottom of the human spinalcord) मेरुदंडके नीचे होनेवाली तेढी नस नहीं है। वह (vien) नस नाडी नहीं है, वह विद्युत् सेभी अत्यंत तेजस्विनी मायाशक्ति—मूलप्रकृति है—जो अंशरूपसे इस शरीरमें रहती है,।

इस प्रकार यह केन उपनिषद् उस पथका प्रदर्शन कर रहा है कि जो योगीं लोगोंको अनुभवसे दृश्य होता है। उनको पता है कि अग्नि और वायु कहां तक साथ करते हैं, और कहांसे पीछे हटते हैं, उनको पता है कि " **किस आकाशमें इंद्रको उमा देवीका दर्शन** " होता है, और उसके आगे जानेपर कौनसी अवस्था है। " (Fanciful interpretation) अवास्तविक काल्पनिक अर्थ " कहनेके पूर्व आवश्यक है कि मूल ग्रंथ को ठीक प्रकार समझनेका यत्न किया जाय।

इस मूल शक्तिकोही " **विद्या** " तंत्रग्रंथोंमें इसालिये कहा है कि इस कुंडलिनी **शक्तिके** दर्शनके पश्चात् ही " **आत्माकी सत्य विद्या** " जानी जाती है, इससे पूर्व नहीं। इससे स्पष्ट है कि कुंडलिनी वाचक " **उमा** " शब्द (जिसका कई तंत्रकार " **विद्या** " अर्थ करते हैं) ईशोपनिषद्के विद्याशब्दसे भिन्नार्थ में प्रयुक्त है और आजकलका विद्याशब्दका अर्थ तो " उमा " में है ही नहीं। जिस समय " ओं " (ॐ) के " **अ+उ+म्** " का व्युत्क्रम होकर " **(उ+म्+अ) उमा** " शब्द बनता है और वह एक विशेष योगमार्गका बोधक है, यह बात जानी जायगी, तत्पश्चात् उस उमा शब्दका महत्व समझना है।

इस प्रकार शंकाओंका समाधान है।